भारत की राजनीतिक व्यवस्था

''.....और जब तक भूमि एवं उत्पादन के अन्य साधन निजी सम्पत्ति बने रहते हैं तब तक जनवादी से जनवादी गणतंत्र भी अनिवार्यत: पूंजीपति वर्ग की तानाशाही ही होता है, एक ऐसी मशीन जिस के द्वारा मुट्ठीभर पूंजीपति मेहनतकश आवाम के विशाल बहुमत को दबा कर रखते हैं।'' (लेनिन)

भारत की राजनीतिक व्यवस्था का चरित्र क्या है? इसकी लाक्षणिक विशेषताएं क्या है? इसके उद्‌भव और विकास का संदर्भ क्या है? इसके विकास की दिशा क्या है? भारतीय समाज में वर्गो के (या इसके घटकों के) रिश्ते क्या हैं? इन गम्भीर प्रश्नों पर हमारे देश के कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों में मतैक्य नहीं है। हालांकि देश के अधिकांश कम्युनिस्ट क्रांतिकारी संगठन 'अर्ध-सामंती राजनीतिक व्यवस्था' सूत्रीकरण इस्तेमाल करते हैं लेकिन तब भी वे इस सूत्रीकरण के बारे में अलग-अलग मत रखते हैं और इसकी व्याख्या में भिन्नताएं सामने आने लगती हैं। इन संगठनों के द्वारा अपनी रणकौशलात्मक लाइन के प्रस्तुतिकरण के दौरान इनके बीच के मतभेद बहुत साफ तौर पर उभर कर सामने आते हैं। दो मुद्दों – सशस्त्र संघर्ष का मुद्दा एवं चुनावों के प्रति रूख – पर तो ये मतभेद इतने सुस्पष्ट व तीखे हैं कि अन्धे को भी दिखाई पड़ें।

भारतीय क्रांति इस बात की मांग करती है कि ये मतभेद सुलटाये जायें। बल्कि ज्यादा सही यह है कि भारतीय क्रांति की तैयारी, विशेषकर एक अखिल भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी का गठन, इस बात की मांग करता है कि इन मतभेदों को सुलटाया जाय। न तो इन्हें अनदेखा करके भारत में सर्वहारा की पार्टी गठित की जा सकती है और न ही अपनी वर्तमान अवस्थितियों को दोहराने भर से ये मतभेद सुलट सकते हैं। इन मतभेदों को सुलटाने के लिए यह जरूरी है कि भारत के कम्युनिस्ट क्रांतिकारी 'भारतीय राजनीतिक व्यवस्था' नामी परिघटना का गहराई में विश्लेषण करें। ये विश्लेषण क्रांति के लिए उपयोगी हों इसके लिए जरूरी है कि कम्युनिस्ट क्रांतिकारी ''तथ्यों से सत्य'' की खोज करें। पिछली सदी के मध्य में इजाद किये गये किन्हीं सूत्रों एवं जड़मतों से चिपके रहने और पुराने और नये तथ्यों पर गौर न करने की आदत किन्हीं धर्मावलम्बियों के लिए तो ठीक हो सकती है लेकिन ये मार्क्सवादी वैज्ञानिकों के लिए त्याज्य है। यदि कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों के पास अपने प्राथमिक तथ्य न हों तो उन्हें कम से कम उन प्राथमिक तथ्यों पर तो गौर करना चाहिये जिन्हें बुर्जुआ अपनी व्यवस्था चलाने के लिए एकत्र करता है। मार्क्स ने पूंजीवाद का विश्लेषण बुर्जुआ द्वारा एकत्र तथ्यों के आधर पर ही किया था और लेनिन ने भी अपने वर्ग शत्रुओं द्वारा एकत्र तथ्यों के आधार पर ही रूसी क्रांति की सही रणनीति व रणकौशल तय किये थे।

भारत के अकादमिक एवं सरकारी हल्कों में सर्वेक्षण व तथ्य संग्रह की एक स्वस्थ प्रणाली विकसित हुयी है। इन में से भरोसे की संस्थाओं के तथ्यों एवं निरीक्षणों का उपयोग करते हुए यहां 'भारत की राजनीतिक व्यवस्था' का एक विश्लेषण प्रस्तुत किया जा रहा है ।

I

गठन एवं विकास का संदर्भ

इसमें कोई दो राय नहीं है कि समकालीन राजनीतिक व्यवस्था किसी क्रांति की उपज नहीं है। 1947 से 1950 के बीच जिस राजनीतिक व्यवस्था ने स्वरूप ग्रहण किया वह किसी भी मायने में औपनिवेशिक भारत से पूर्ण विच्छेद की उपज नहीं थी। बल्कि एक मायने में यह अंग्रेजों के जमाने की राजनीतिक व्यवस्था की निरंतरता थी। 1947 में जब अंग्रेज भारत छोड़ने को मजबूर हुए तो वे यहां के पूंजीपति वर्ग को एक सौदे के तहत अपनी राजसत्ता हस्तांतरित करके गये। उपनिवेशवादियों और देशी पूंजीपति वर्ग (एवं जमीदारों) के बीच का यह सौदा देश की राष्ट्रवादी जनता के खिलाफ था। अत: 1947 के बाद की नयी राजनीतिक व्यवस्था ने अंग्रेजों के जमाने की राजसत्ता की अनेक चीजें जस की तस अपना ली। इसमें औपनिवेशिक सेना, पुलिस, नौकरशाही एवं उनके काम-काज के तौर-तरीके एवं नियम-कानून हैं। इस मायने में यह अंग्रेजों के जमाने की राजनीतिक व्यवस्था की निरंतरता थी। मगर 1950 आते-आते इसमें बहुत कुछ ऐसा भी पैदा हो गया जो बिल्कुल नया था और जिस पर उस दौर के राजनीतिक माहौल की स्पष्ट छाप थी। बाद के दिनों में राजनीतिक व्यवस्था के इस नये हिस्से ने प्रमुख भूमिका अदा की और समग्र राजनीतिक व्यवस्था को क्रमिक सुधारों की एक लम्बी प्रक्रिया के तहत अपने चरित्र व अपनी जरूरतों के अनुरूप ढाला। 1950 आते-आते जो महत्वपूर्ण नई चीज अस्तित्व में आयी वह एक स्पष्टत: बुर्जुआ संविधान था जिसने कालांतर में एक औपनिवेशिक राजसत्ता को एक बुर्जुआ जनतंत्र में तबदील कर दिया। समकालीन भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में वे सारी चीजें मौजूद हैं जिनके आधार पर इसे बुर्जुआ जनतंत्र के प्रवर्ग में रखा जा सकता है। बल्कि अगर केवल राजनीतिक व्यवस्था की ही बात की जाये और समाज की मूल्य-मान्यताओं व जनता की चेतना की बात न की जायें तो इस राजनीतिक व्यवस्था में लगभग वे सारी चीजें मौजूद हैं जो यूरोप व अमेरिका के समकालीन बुर्जुआ जनतंत्र में मौजूद हैं।

यहां प्रश्न उठता है कि क्या द्वितीय विश्व युद्ध के तुरंत बाद का भारतीय समाज मुख्यत: एक पूंजीवादी समाज बन चुका था (अर्थात् उसमें मुख्यत: पूंजीवादी उत्पादन सम्बन्ध कायम हो चुके थे), जिस आधार पर एक पूंजीवादी अधिरचना खड़ी करने की जरूरत ऐतिहासिक तौर पर सामने आ गयी हो? यदि नहीं तो वह क्या चीज थी जिसने एक मुख्यत: प्राक् पूंजीवादी अर्थव्यवस्था पर एक पूंजीवादी संविधान आरोपित कर दिया और वह क्या चीज थी जिसने समग्र राजनीतिक व्यवस्था के विकास को उसी पूंजीवादी तंत्र की ओर धकेला?

1947 में अंग्रेजों के जाने के तुरन्त बाद या 1950 में भी भारत एक अर्ध-सामन्ती एवं विऔपनिवेशीकरण की प्रक्रिया से गुजरता हुआ समाज था। भारत की अर्थव्यवस्था मुख्यत: एक प्राक् पूंजीवादी अर्थव्यवस्था थी यद्यपि भारतीय अर्थव्यवस्था में पूंजीवादी शक्तियां अत्यधिक गतिमान थीं तब भी पूंजीवादी उत्पादन सम्बन्ध इतने विकसित व व्यापक नहीं थे कि अपनी नयी अधिरचना के सबसे महत्वपूर्ण घटक राजनीतिक व्यवस्था का पूंजीवादी रूपांतरण कर दें। दरअसल भारत में बात उल्टी रही है। एशिया-अफ्रीका के अनेक नव आजाद देशों की तरह यहां पिछड़ी अर्थव्यवस्था पर एक आगे बढ़ी हुई राजनैतिक व्यवस्था स्थापित हो गयी। एक दशक से ज्यादा समय तक इस अन्तरविरोध ने भारतीय समाज को गति दी। आगे बढ़ी हुई राजनीतिक व्यवस्था ने पिछड़े प्राक् पूंजीवादी उत्पादन

सम्बंधों वाली अर्थव्यवस्था की जड़ता को तोड़ने एवं उसके पूंजीवादीकरण में अहम भूमिका निभाई। यह प्रक्रिया अब तक चलती रही है और किन्हीं मामलों में अब भी जारी है, हालांकि '70 के दशक की शुरूआत होते-होते भारतीय अर्थव्यवस्था एक प्राक् पूंजीवादी अर्थव्यवस्था से एक मुख्यत: पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में रूपांतरित हो चुकी थी। इसके साथ-साथ यह बात भी सही है कि अर्थव्यवस्था के पिछड़ेपन एवं सामाजिक मूल्य-मान्यताओं के पिछड़े होने के चलते भारत की बुर्जुआ राजनीतिक व्यवस्था विकारों का शिकार रही है।

जिस मुख्य कारक की बदौलत इतने पिछड़े समाज (और ऐसी पिछड़ी अर्थव्यवस्था) को 1947.50 के दौरान एक आगे बढ़ी हुई बुर्जुआ राजनीतिक व्यवस्था मिली वह कारक था भारत के भीतर और बाहर का राजनीतिक माहौल। हम पहले संक्षेप में भारत के भीतर के राजनीतिक माहौल का चित्रण करेंगे, फिर बाहरी माहौल का।

अपने अर्थतंत्र में बहुत सीमित व कमजोर पूंजीवादी तत्वों की मौजूदगी के बावजूद और पिछड़ी मूल्य-मान्यताओं के बावजूद भारत के लोगों ने ब्रिटिश उपनिवेशवादियों के खिलाफ एक लम्बा राष्ट्र मुक्ति संघर्ष लड़ा था। इस संघर्ष की प्रकृति जनवादी थी। यह बाहरी औपनिवेशिक शक्ति के विरुद्ध एक जनवादी संघर्ष था। और यह परोक्षत: उस बाहरी शक्ति के सामाजिक अवलम्ब देशी सामन्तवाद के भी खिलाफ था। इस लम्बे राष्ट्र मुक्ति संघर्ष ने भारत के जनमानस की राजनीतिक चेतना को इतना तो उन्नत कर ही दिया था कि अब उनके ऊपर कोई सामन्ती राजतंत्र नहीं थोपा जा सकता था। 1857 का विद्रोह यदि सफल हो गया होता तो शायद कुछ दशकों तक भारत के लोग किसी बहादुरशाह जफर को बर्दाश्त कर लेते लेकिन 1947 में किसी राजतंत्र की स्थापना सम्भव नहीं थी। इस दौरान भारत के मजदूरों की पार्टी सी.पी.आई. देश के मजदूरों-किसानों को गोलबंद कर रही थी। उसके नेतृत्व में तेलंगाना का शक्तिशाली संघर्ष लड़ा जा रहा था। सामन्तशाही व निरंकुशता के खिलाफ आम फिजा थी। ऐसी स्थिति में संवैधानिक जनतंत्र की स्थापना ही भारत के पूंजीपतियों और जमींदारों के लिए एकमात्र रास्ता था। वैसे पूंजीपति वर्ग के अपने विकास के लिए यह सबसे माकूल राजनैतिक इंतजाम भी था।

भारत के बाहर का राजनैतिक माहौल तो और भी अनुकूल था। द्वितीय विश्व युद्ध में फासीवादी शक्तियों की हार हुई थी। एशिया-अफ्रीका के तमाम देशों में उपनिवेशवाद-विरोधी राष्ट्र-मुक्ति संघर्ष चल रहे थे। इसके साथ ही साथ जनवाद से आगे की धारा समाजवादी धारा भी एक सशक्त राजनीतिक धारा के बतौर सामने आयी थी। द्वितीय विश्व युद्ध से उबरने वाली दुनिया में एक सशक्त समाजवादी खेमा अस्तित्व में आ चुका था और उसका विस्तार जारी था। भारत के इर्द-गिर्द के ऐसे प्रगतिशील वैश्विक माहौल में बुर्जुआ जनतंत्र से पिछड़ी कोई राजनीतिक व्यवस्था स्थापित करना और उसे चला ले जाना और भी टेढ़ी खीर थी।

अन्य उत्प्रेरकों की कमजोर स्थिति के बावजूद इस बेहतरीन राजनीतिक माहौल में जो संविधान अपनाया गया वह अपनी मूल आत्मा में बुर्जुआ जनवादी था। उसके जनवादी चरित्र को जो चीजें सीमित करती थीं, वे थीं न्याय-कानून की वे तमाम धारायें जो ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन से सीधे ले ली गयी थी इन औपनिवेशिक अवशेषों के साथ-साथ नये संविधान में ऐसे अनेक प्रावधान थे जो कि उसके द्वारा घोषित जनवादी अधिकारों को सीमित करते हैं। ऐसी खोट के बावजूद वह बुर्जुआ जनवादी था। आपातकाल के 18 महीनों को छोड़कर 1950 से अब तक भारत में इस संविधान के तहत बुर्जुआ जनतंत्र का पालन हुआ है। इस संविधान में निरूपित चौखटे के भीतर भारत की

राजनीतिक व्यवस्था का विकास हुआ है। विकास की दिशा पूंजीवादी मूल्य-मान्यताओं को स्थापित करने की ओर रही है और इस प्रक्रिया में इस राजनैतिक व्यवस्था की सामाजिक स्वीकार्यता बढ़ी है। आइये इस राजनीतिक व्यवस्था की मुख्य लाक्षणिक विशेषताओं पर गौर करें।

II

भारतीय राजनीतिक व्यवस्था की लाक्षणिक विशेषताएं

यहां हम उस राजनीतिक व्यवस्था की लाक्षणिक विशेषताओं की चर्चा कर रहे हैं जो 21वीं सदी के भारत में हमारे सामने है। यहां हम इसके ऐतिहासिक विकासक्रम की विवेचना नहीं करेंगे बल्कि इसके वर्तमान स्वरूप पर ही अपना ध्यान केन्द्रित करेंगे। जिस राजनीतिक व्यवस्था के साथ भारत 21वीं सदी में दाखिल हुआ है, उसकी लाक्षणिक विशेषताएं निम्न हैं।

आज्ञापालक सेना– भारत की सेना, भारत की जनता पर पूंजीपति वर्ग की हुकूमत की मुख्य अस्त्र है। भारतीय पूंजीपतियों के विदेशी शत्रुओं के खिलाफ इसने जितनी लड़ाइयां लड़ी हैं उतनी ही क्रूरता से यह भारतीय जनता के न्यायप्रिय संघर्षों का भी दमन करती रही है। कश्मीर और उत्तर-पूर्व में तो यह पिछली आधी-शताब्दी के दौरान जनता पर लगातार ही गोलियां चलाती रही है। वैसे देश के मुख्य भाग में भी यह मजदूरों-मेहनतकशों को दहशत में रखने के लिए फ्लेग मार्च, परेड, शस्त्रों की नुमाइश सामान्यत: करती रहती है। जरूरत पड़ने पर पूंजीपतियों की सरकार इसे पुलिस व अर्ध-सैनिक बलों की मदद के लिए बुलाती रही है। पूंजीपतियों के वर्गीय शासन के मजबूत अस्त्र होने के साथ-साथ, जो कि सभी पूंजीवादी समाजों के अस्तित्व के लिए जरूरी होता है, इस सेना की एक विशेषता यह भी है कि यह बहुत आज्ञापालक है और यह उनके वर्गीय शासन में किसी भी प्रकार की दिक्कतें पैदा नहीं करती है।

यह सेना अब तक नागरिक प्रशासन को वरीयता देती रही है। 1950 से लेकर अब तक एक भी बार ऐसा नहीं हुआ है कि किसी सैनिक कमांडर ने सत्ता हथियाने की कोई सफल या असफल कोशिश की हो। यहां हम भारतीय सेना के भीतर छिट-पुट विद्रोह या कलह की बात नहीं कर रहे हैं, बल्कि उस स्थिति की बात कर रहे हैं जब कोई शीर्ष कमाण्डर या अफसरों का गुट नागरिक प्रशासन का तख्ता पलटने की कोशिश करे। 1975 में आपात काल लगने के पूर्व की तनावग्रस्त स्थिति, आपातकाल के दौरान, इंदिरा गांधी के 1977 के आम चुनाव में शिकस्त के समय, 1984 में इंदिरा गांधी की हत्या के समय या किसी भी अन्य ऊहा-पोह के समय में भी यह सेना पूंजीपतियों की नागरिक सरकार की कमान में रही है, उसने बुर्जुआ संविधान एवं संवैधानिक संस्थाओं का आदर किया है। तीसरी दुनिया के नव आजाद देशों के लिए यह आम स्थिति नहीं है। तीसरी दुनिया के नव आजाद देशों में नागरिक सरकारों के लिए सेना को बैरकों में समेटे रखना काफी मुश्किल काम रहा है। तीसरी दुनिया के देशों में अक्सर ही ऐसा होता रहा है कि सेना ने या तो सीधे तख्ता पलट किये हैं, या फिर किसी नागरिक सरकार की मौजूदगी के बावजूद प्रशासनिक गतिविधियों में उसकी दखलंदाजी रही है या फिर उसने राष्ट्रीय संसद की अच्छी-खासी सीटें अपने लिए आरक्षित करवायीं हैं। भारत में ऐसा नहीं है। भारत में तख्तापलट तो दूर सेना ने प्रशासनिक गतिविधियों में

भी तब ही हाथ डाला है जब पूंजीपतियों की सरकार ने उसे ऐसा करने के आदेश दिये हैं और जैसे ही उसे वापिस बैरकों में लौटने के लिए कहा गया है, वह लौटी है।

बुर्जुआ वर्ग का प्रभावशाली नागरिक प्रशासन और एक शांत आज्ञापालक सेना से बनी राजनीतिक व्यवस्था विकसित पूंजीवादी देशों के जनतंत्रों का तो लक्षण होता है मगर यह अल्प विकसित पूंजीवादी देशों में कम ही देखा गया है। भारतीय राजनीतिक व्यवस्था की इस विशेषता का उल्लेख करने का तात्पर्य यह नहीं है कि कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों को यह मानना चाहिये कि पूंजीपति वर्ग की सेना अपनी संवैधानिक हदों को कभी नहीं लांघेगी। वर्ग-संघर्ष के विकसित व तीव्र होने पर ऐसा हो सकता है कि बुर्जुआ राज को बचाने के लिए सेना कमजोर अक्षम सरकार की अवहेलना करते हुए सीधे सत्ता हथियाये। मगर तथ्य यह है कि पिछले 55-56 वर्षों में सेना ने नागरिक सरकार की आज्ञा का पालन किया है। सेनानायकों की महत्वाकांक्षाओं पर लगाम से भारत के बुर्जुआ लोकतंत्र को अच्छा-खासा स्थायित्व मिला है और जनता के बीच इस राजनीतिक व्यवस्था को स्वीकार्यता हासिल करने में भी मदद मिली है।

बहुदलीय संसदीय प्रणाली- धार्मिक तनाव एवं उत्पीड़ित राष्ट्रीयताओं के मुक्ति आन्दोलनों की मौजूदगी के बावजूद पूंजीपति वर्ग ने भारत में पहले दिन से ही बहुदलीय संसदीय प्रणाली अपनायी और आपातकाल के अपवाद के 18 महीनों को छोड़कर यह तमाम भ्रष्टाचार एवं संकटों के बावजूद कारगर रही है। शासक वर्ग की जरूरतें इसके द्वारा पूरी होती रही हैं और पूंजीपतियों ने इसमें कोई बुनियादी परिवर्तन नहीं किया है। इस प्रणाली में चुनाव लगातार होते रहे हैं और चुनावों के जरिये सरकारें बदली जाती रही हैं। केन्द्रीय स्तर पर अब तक 14 लोक सभा चुनाव हो चुके हैं और चुनावों के नतीजों के बतौर 7 बार पुरानी पार्टी (या गठबंधन) की सरकार बदली जा चुकी हैं। हर चुनाव में आम तौर पर आधी लोकसभा बदल जाती है। केन्द्र से नीचे प्रांतीय स्तर पर और उससे भी नीचे ग्राम पंचायतों एवं नगर परिषदों का एक ढांचा है। सत्ताधारी पार्टियों द्वारा सरकारी मशीनरी के एक हद तक दुरूपयोग एवं अन्य गड़बड़ियों के बावजूद अन्तर्राष्ट्रीय पर्यवेक्षकों एवं देशी शासक वर्ग के बुर्जुआ मापदंडों के अनुसार ये चुनाव स्वतंत्र व निष्पक्ष हैं। बड़ी धांधलियों/गड़बड़ियों की अवस्था में शक्तिशाली चुनाव आयोग पुनः मतदान करवाता है। इस चुनावी तंत्र में लोगों की दिलचस्पी लगातार बनी रही है। 1957 व 1984 में सर्वाधिक 64 प्रतिशत मतदान हुआ वैसे लोकसभा चुनावों में यह औसतन 60 प्रतिशत के इर्द-गिर्द रहा है।

चुनावों द्वारा गठित सरकारें भले ही जन आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व न करती हों मगर वे पूंजीपति वर्ग की आकांक्षाओं के अनुरूप काम करेंगी इसके लिए एक परिष्कृत व विकसित प्रणाली अस्तित्व में आ चुकी है जिसके घटक तत्व हैं- प्रत्याशियों (व पार्टियों) को चुनाव लड़ने के लिए पूंजीपतियों द्वारा दिये जाने वाले चंदे जो कि सामान्यतः 'काला धन' होता है, बनी हुई सरकार पर दबाव डालने के लिए पूंजीपतियों की संस्थायें मसलन सी.आई.आई, फिक्की या भांति-भांति के अन्य चेम्बर ऑफ कॉमर्स, सांसदों-विधायकों की सीधी खरीद-फरोख्त द्वारा सरकारों में अस्थिरता पैदा करना एवं गिराना। इस बहुदलीय चुनावी राजनीति में माफिया सरगनाओं की भी अच्छी-खासी भूमिका होती है। कई जगहों से तो वे प्रत्यक्षतः चुनाव लड़ते है और जीत कर देश की संसद व विधान सभाओं को सुशोभित करते हैं। मगर काला धन व अपराध किसी भी बुर्जुआ तंत्र के अनिवार्य घटक होते हैं और राजनीतिक व्यवस्था में इनकी मौजूदगी से वह बुर्जुआ अर्थों में गैर जनवादी नहीं हो जाती है।

यदि इन तत्वों से रहित राजनीतिक व्यवस्था को ही जनवादी मानना हो तो इटली, अमेरिका, जापान या रूस की राजनीतिक व्यवस्थाएं जनवादी नहीं मानी जा सकती हैं।

इस बहुदलीय प्रणाली में अधिकांश पार्टियां पूंजीपति वर्ग की पार्टियां हैं। इसमें हिस्सेदारी करने वाली थोड़ी सी मान्यता प्राप्त पार्टियां निम्न बुर्जुआ वर्ग की पार्टियां हैं। समग्रता में जब यह बहुदलीय प्रणाली काम करती है तो यह पूंजीपति वर्ग के सभी हिस्सों के हितों की पूर्ति करने का प्रयास करती हैं, हालांकि इसमें इजारेदार पूंजीपतियों के हितों को वरीयता मिलती है। विगत वर्षों में राजनीतिक व्यवस्था इजारेदार पूंजीपतियों के पक्ष में और ज्यादा झुकी है लेकिन तब भी पूंजीपति वर्ग के सभी धड़ों के लिए जनवाद है, वास्तविक जनवाद है। मजदूरों-मेहनतकशों के हितों की इसमें पूर्ति नहीं होती है, और न ही किन्हीं भावी सुधारों के उपरांत हो सकती है। मजदूरों-मेहनतकशों के ऊपर यह पूंजीपति की तानाशाही है। इसके जनवादी रूप के झांसे में एवं अपनी कम राजनीतिक चेतना के चलते वे इसमें वोट डालते हैं और इसे वैधता प्रदान करते हैं।

स्थायी व प्रशिक्षित नौकरशाही– भ्रष्टाचार रहित नौकरशाही पूंजीवादी समाजों के लिए महज कल्पना होती है। पिछड़े व अभावग्रस्त समाजों में बहुत निम्न व छोटे कामों में भी अनियमितता बरती जाती है और घूस ली-दी जाती है। उन्नत पूंजीवादी समाजों में जहां कुछ सम्पन्नता है वहां छोटे कामों व निचले स्तर पर भ्रष्टाचार बहुत कम हो जाता है और नौकरशाही की ऊपरी पर्तों के काम-काज में कमीशनों-सिफारिशों की व्यवस्था एक व्यवस्थित रूप ग्रहण कर लेती है। भारत में नौकरशाही का तंत्र अभी उस विकसित अवस्था में दाखिल नहीं हुआ है। ऐसे में यहां नौकरशाही के काम-काज में अराजकता व भ्रष्टाचार व्यापक पैमाने पर विद्यमान है।

वर्तमान भारतीय नौकरशाही अंग्रेजों के जमाने की लगान/कर उगाहू कलक्टरों की परम्परा की वारिस है। मगर उस जमाने की तुलना में आज इसका आकार बहुत बड़ा है, इसके काम-काज का दायरा बहुत व्यापक एवं इसका प्रशिक्षण आधुनिक भारत में बुर्जुआ वर्ग की जरूरतों के अनुरूप होता है। पूंजीपति विभिन्न स्तरों के नौकरशाहों को सुविधाएं और सीधे-सीधे घूस देकर अपने काम निकलवाते रहते हैं। शासक वर्गीय हल्कों में यह आम और स्वीकार्य बात है। अपने स्थायी ढांचे, परम्पराओं व निश्चित कार्य शैली की बदौलत यह नौकरशाही आज की राजनीतिक व्यवस्था को स्थिरता प्रदान करती है। विकसित परम्पराओं एवं निश्चित कार्य शैली के चलते यह नौकरशाही कार्यपालिका के हिस्से आने वाले अधिकांश कार्यों को स्वतः ही निपटती है। अतः चुनावों द्वारा गठित मंत्री परिषद यदि अकर्मठ व अक्षम भी हो तब भी राजनीतिक व्यवस्था में जल्दी कहीं अस्थिरता पैदा नहीं होती है।

पृथक न्यायपालिका– किसी विकसित पूंजीवादी जनतंत्र के अनुसार भारत में न्यायपालिका का कार्यपालिका से पृथक वजूद है हालांकि न्यायाधीशों की नियुक्ति कार्यपालिका करती है। यह बात रूप में तो है ही अन्तरवस्तु में भी कुछ हद तक विद्यमान है। इससे इंकार नहीं कि न्यायाधीशों पर राजनीतिक एवं अन्य किस्म के दबाव काम करते हैं, मगर तब भी यह देखने में आया है कि उच्चतम न्यायालय एवं उच्च न्यायालयों के न्यायाधीश यदा-कदा सरकारों के महत्वपूर्ण सदस्यों के खिलाफ फैसले लिख देते हैं। वर्ग संघर्ष की सुप्त अवस्थाओं में यह न्यायिक तंत्र पूंजीपति वर्ग के शासन को जमाने एवं व्यवस्थित करने में एक अहम भूमिका निभाता है। विगत दिनों की न्यायिक सक्रियता इस भूमिका को समझने के लिए बहुत सटीक उदाहरण है। विगत दिनों में इस न्यायपालिका

ने अनेक पूंजीपरस्त एवं जनविरोधी फैसले सुनाकर बुर्जुआ शासन को भारत में और व्यवस्थित किया है। और जब न्यायपालिका, कार्यपालिका से पृथक अपने काम करती है तो उसके फैसलों की स्वीकार्यता भी अधिक होती है। ऊपरी संस्तरों पर भारतीय न्यायपालिका भी यहां की कार्यपालिका के दबाव/निर्देशों से जितनी स्वायत्त है वह तीसरी दुनिया में अपवाद है। इसकी तुलना इटली या आयरलैण्ड जैसे विकसित पूंजीवादी मुल्कों से की जा सकती है।

'स्वतंत्र' व पक्षधर मीडिया– आज भारत में सरकारी मीडिया, समग्र मीडिया का बहुत थोड़ा हिस्सा रह गया है। अधिकांश मीडिया सरकार के मालिकाने से बाहर निजी पूंजीपतियों के मालिकाने में है। वे इसके द्वारा अपनी वर्गीय एवं निजी कारोबार की जरूरतों की पूर्ति करते हैं। भारतीय मीडिया काफी सुव्यवस्थित है और तीसरी दुनिया के बुर्जुआ बुद्धिजीवी हल्कों में यह अनुकरणीय माना जाता है। इसके पत्रकारों की पहुंच व्यापक है तथा इसमें कुछ लेखन या प्रसारण विश्व स्तरीय भी होते हैं। वर्गीय नीयत या वर्गीय हितों के सवालों को उठाये बगैर यह मीडिया आम तौर पर सरकारों की आलोचना करता है और भ्रष्टाचार के मामलों को उजागर करता रहता है। लगातार की जाने वाली यह कार्यवाही इस मीडिया को जनता के बीच स्वीकार्य बनाती है। उक्त काम के साथ-साथ यह मीडिया पूंजीपति वर्ग के दूरगामी हितों के प्रति एवं उसकी तात्कालिक केन्द्रीय नीतियों के प्रति समाज में लगातार राय निर्माण करता है। सरकारों व राजसत्ता की पूंजीपरस्त वर्गीय नीति पर इस मीडिया के संचालकों में पूर्ण सहमति है, उसके किसी भी महत्वपूर्ण हिस्से (मसलन आर्थिक सुधारों की दिशा) पर इनमें कोई मतभेद नहीं हैं। सामान्यत: यह मीडिया बुर्जुआ जनवादी मूल्यों के प्रति आकर्षण पैदा करता है और जनमानस का राजनीतिक व्यवस्था में विश्वास बढ़ता है। यह पक्षधर मीडिया जिसके प्रसारणों की पहुंच आज बहुत व्यापक है, इस राजनीतिक व्यवस्था का अहम स्तंभ है। बहुत सूक्ष्म स्तर पर यह पूंजीपति वर्ग की विचारधारा को समाज में स्थापित करते हुए, शेष समाज पर उसकी तानाशाही को सुदृढ़ करने का आधार तैयार करता है।

उक्त लाक्षणिक विशेषताओं से युक्त यह बुर्जुआ जनतंत्र पिछली आधी शताब्दी से ज्यादा समय से भारतीय समाज में स्थापित है और इसके स्थायित्व को चुनौती देने वाली कोई भी बड़ी परिघटना अब तक सामने नहीं आयी है। पिछली आधी शताब्दी में न तो शासक वर्ग/वर्गों के विभिन्न धड़ों में कोई कलह इतनी गहरायी है कि उसने राजनीतिक व्यवस्था में बुनियादी महत्व की अस्थिरता पैदा कर दी हो और न ही कोई शोषित-उत्पीड़ित वर्ग इतना संगठित हो पाया है कि राजनीतिक व्यवस्था के लिए राष्ट्रीय स्तर पर खतरा बना हो। राजनीतिक व्यवस्था के लिए जो चुनौती पेश होती रही है वह उत्तर-पूर्व एवं कश्मीर के राष्ट्र मुक्ति आन्दोलनों से ही पेश होती रही है। मगर उसका असर और मारक क्षमता सीमित है और राजनीतिक व्यवस्था इन आंदोलनों को एक हद के भीतर समेटने में सफल रही है। देश के केन्द्रीय हिस्सों में हमारा हथियारबंद नक्सली आंदोलन अभी इस व्यवस्था के लिए कोई राजनैतिक चुनौती नहीं बन पाया है, यह अभी इनके लिए ज्यादा से ज्यादा कानून व्यवस्था की समस्या है। इसके बावजूद कि इस बुर्जुआ जनतंत्र की खोल में पूंजीपतियों का यह वर्गीय शासन पिछली आधी शताब्दी से कायम है, तब भी यह बुर्जुआ जनतंत्र कई हिचकोले खा चुका है और कई छोटे-बड़े संकटों से गुजर चुका है। इस बुर्जुआ जनतंत्र के इतिहास में ऐसे अनेक मौके आये हैं जब केन्द्र सरकार ने धारा 356 के तहत प्रांतीय राज्य सरकारों को भंग करके राष्ट्रपति शासन लागू किया है। ऐसी स्थितियां भी रही हैं जब केन्द्र में सरकारों का गठन राजनीतिज्ञों की महत्वाकांक्षाओं व संसदीय गणित न बैठ पाने के कारण दिक्कतों में फँस गया है और ऐसे भी

अवसर रहे हैं जब केन्द्र सरकार बेहद अस्थिर रही है। ऐसे ही राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए राजनीतिक दलों ने समाज में दंगे भड़काये हैं (बाबरी मस्जिद विध्वंस, गुजरात नरसंहार) जो कि पूरी राजनीतिक व्यवस्था के लिये बड़े संकट बने। कुल मिलाकर यद्यपि यह नहीं माना जा सकता है कि यह राजनीतिक व्यवस्था संकटरहित रहे बगैर काम नहीं करती रही है, तब भी यह बात अपनी जगह ठीक है कि इसके जरिये बुर्जुआ आधी शताब्दी से अधिक समय से अपना वर्गीय शासन सफलतापूर्वक चलाता रहा है। ऐसे में यह बहुत जरूरी हो जाता है कि इस प्रश्न को समझने का प्रयास किया जाय कि भारतीय जनता, उसके विभिन्न हिस्से, इस राजनीतिक व्यवस्था के प्रति क्या सोच व भाव रखते हैं। लेख के अगले भाग में हम यही प्रयास करेंगे।

III

मजदूर-मेहनतकश और राजनीतिक व्यवस्था

लेनिन ने मार्च 1917 के तुरन्त बाद की स्थिति पर टिप्पणी करते हुए कहा था कि रूस में बुर्जुआ वर्ग की सत्ता इसलिए कायम है क्योंकि राजनैतिक व्यवस्था (एवं पूंजीपति वर्ग) में जनता का ''अतार्किक विश्वास'' है। प्रश्न उठता है कि क्या भारत में पूंजीपति वर्ग का राज मूलतः इसलिए कायम है क्योंकि जनता पूंजीपति वर्ग की हिंसा से डरी-सहमी हुई है या फिर उसका भी मार्च 1917 की रूसी जनता की तरह बुर्जुआ वर्ग और उसकी राजनीतिक व्यवस्था से अभी मोह भंग नहीं हुआ है और हाल-फिलहाल तो शोषकों का राज मूलतः जनता के ''अतार्किक विश्वास'' की बदौलत ही कायम है? यह एक गम्भीर प्रश्न है और इसका वस्तुनिष्ठ उत्तर देना निहायत जरूरी है क्योंकि इसके गलत या सही उत्तर से क्रांति के रणकौशल बदल जाते हैं। यदि राजनीतिक व्यवस्था में मजदूरों-मेहनतकशों का विश्वास बना हुआ है तब कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों का अभियान अभी भंडाफोड़ की प्रारंभिक अवस्था में ही है और यदि राजनीतिक व्यवस्था से मोह भंग हो चुका है तब प्रहार के लिए गोलबन्दी की अवस्था में हम दाखिल हो चुके हैं।

मामले को समझने के लिए आइये भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में जन हिस्सेदारी के आंकड़ों की तुलना हम कुछ चुनिंदा विकसित पूंजीवादी देशों (ब्रिटेन, संयुक्त राज्य अमेरिका, स्विट्जरलैंड) की राजनीतिक व्यवस्थाओं में जन हिस्सेदारी के आंकड़ों से करते हैं। तालिका-1 में 20 वीं शताब्दी के उत्तरार्ध के लिए आंकड़े प्रस्तुत किये गये हैं। ये आंकड़े एक ही स्रोत W.W.W.idea.int, से हैं। ये राष्ट्रीय चुनावों के आंकड़े हैं। ये वोट देने योग्य आबादी में से डाले गये वोटों के आंकड़े (प्रतिशत में)हैं। भारत के लिए डाले गये वोट एवं पंजीकृत वोटों के अनुपात के आंकड़े भी हैं। मगर अन्य मुल्कों में पंजीकरण की प्रणाली हू-ब-हू भारत जैसी नहीं है और फिर पंजीकरण की अनियमितताओं की दिक्कतों से बचने के लिए भी अन्तर्राष्ट्रीय तुलनाओं में 'वोट / वोट देने योग्य आबादी' के आंकड़े इस्तेमाल करने का प्रचलन है। हम उसी का पालन करेंगे।

तालिका-1 को प्रथम दृष्टया देखने से एक बात यह पता चलती है कि तीनों ही विकसित पूंजीवादी देशों – ब्रिटेन, अमेरिका व स्विट्जरलैंड – में 1950 से 2000 के बीच, राजनीतिक व्यवस्थाओं में आम जनता की दिलचस्पी (जो कि वोट प्रतिशत द्वारा तय होती है) घटी है। यह एक

स्पष्ट रुझान है (अमेरिका के संसदीय चुनावों के आंकड़े थोड़ा भ्रामक हैं, मगर यदि 4 वर्षों के अन्तराल पर आंकड़ों को पढ़ा जाय तो यहां भी वही स्पष्ट रुझान है)। इसके उल्टे पिछड़े पूंजीवादी भारत में राजनीतिक व्यवस्था में लोगों की दिलचस्पी कमोबेश एक स्तर पर कायम है और 60 प्रतिशत का उच्च स्तर है।

उक्त वस्तुस्थिति में यदि ब्रिटेन, स्विट्जरलैंड जैसे विकसित पूंजीवादी मुल्कों के लिए कोई यह निष्कर्ष निकाल ले कि जनता का बुर्जुआ राजनीतिक व्यवस्था से मोहभंग हो रहा है और अब वह जीवन की समस्याओं के समाधान के लिए वैकल्पिक रास्ते तलाशेगी तो यह समझ में आने वाली बात हो सकती है। मगर भारतीय जनता की बुर्जुआ संसदीय जनतांत्रिक प्रणाली में दिलचस्पी एक उच्च स्तर पर बरकरार है। वह कतई नहीं घटी है। इसलिए कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों का यही कार्यभार बनता है कि वे इस राजनीतिक व्यवस्था का भंडाफोड़ करें चाहे वे इस काम को चुनाव लड़ते हुए करते हैं या अपने संगठनों की कमजोर स्थिति के कारण चुनावों में हिस्सेदारी किये बगैर करते हैं। चुनाव बहिष्कार और राजनीतिक व्यवस्था पर प्रहार की अन्य कार्यवाहियों के लिए राष्ट्रीय स्तर पर स्थितियां अभी कतई परिपक्व नहीं हैं।

वर्तमान समय में चुनाव बहिष्कार की रणकौशलात्मक लाइन के प्रवक्ता यह दलील भी कभी-कभार दे देते हैं कि भारत का असमान विकास हुआ है। ऐसी हालत में देश के पिछड़े इलाकों में चुनाव बहिष्कार की लाइन का अर्थ है क्योंकि वहां लोग राजनीतिक व्यवस्था के प्रति उदासीन हैं और बहिष्कार की लाइन उनकी चेतना के अनुरूप होती है। यदि अपनी मनोगत धारणाओं

तालिका–1

वर्ष	भारत		ब्रिटेन	संयु. राज्य अमेरिका		स्विट्जरलैंड
	(संसदीय चुनाव) वोट/पंजीकृत वोटर (%)	(संसदीय चुनाव) वोट/वोट दे सकने योग्य आबादी (%)	(संसदीय चुनाव) वोट/वोट दे सकने योग्य आबादी (%)	(संसदीय चुनाव) वोट/वोट दे सकने योग्य आबादी (%)	(राष्ट्रपति चुनाव) वोट/वोट दे सकने योग्य आबादी (%)	(संसदीय चुनाव) वोट/वोट दे सकने योग्य आबादी (%)
1950	–	–	**81.6**	**42.6**	–	–
1951	–	–	**81.4**	–	–	**63.0**
1952	**61.2**	**58.9**	–	**59.7**	**60.3**	–
1953	–	–	–	–	–	–
1954	–	–	–	**43.1**	–	–
1955	–	–	**75.5**	–	–	**60.8**
1956	–	–	–	**54.9**	**58.3**	–
1957	**63.8**	**62.6**	–	–	–	–
1958	–	–	–	**44.5**	–	–
1959	–	–	**77.5**	–	–	**58.1**

1960	–	–	–	63.1	63.1	–
1961						
1962	55.1	54.4		47.3		
1963						53.5
1964			75.1	61.9	61.9	
1965						
1966			73.8	48.4		
1967	60.9	63.1				53.2
1968				60.8	60.8	
1969						
1970			71.2	46.6		
1971	55.3	57.2				उ. न.
1972				55.2	55.2	
1973						
1974			72.5	38.2		
1975						43.6
1976				53.5	53.5	
1977	60.5	64.6				
1978				37.2		
1979			75.1			40.6
1980	56.9	61.9		52.6	52.6	
1981						
1982				39.8		
1983			71.7			40.8
1984	63.5	64.5		53.1	53.1	
1985						
1986				36.4		
1987			75.2			39.9
1988				50.1	50.1	
1989	58.2	61.2				
1990				36.5		

1991	56.7	57.2				39.7
1992			75.4	55.1	55.2	
1993						
1994				38.8		
1995						35.7
1996	57.9	61.1		49.1	47.2	
1997			69.4			
1998	62.0	67.1		34.7		
1999	59.7	65.5				34.9
2000				46.6	49.3	
2001			57.6			

श्रोत: http://www.idea.int

को प्रस्थान बिन्दु न बनाया जाये बल्कि वस्तु स्थिति का ठोस अध्ययन किया जाये तो हम पाते हैं कि स्थानीय स्थितियों के संदर्भ में भी बात उल्टी है, कि पिछड़े इलाकों में रहने वाले लोगों की वर्तमान राजनीतिक व्यवस्था में ज्यादा दिलचस्पी है। इसे प्रमाणित करने के लिए हम 1999 व 2004 के लोक सभा चुनाव के निर्वाचन क्षेत्रों से सम्बन्धित आंकड़े तालिका-2 में प्रस्तुत कर रहे हैं। इस तालिका में 'ग्रामीण' उन निर्वाचन क्षेत्रों को माना गया है जहां शहरी मतदाताओं का हिस्सा 25 प्रतिशत से कम है और 'शहरी' उन्हें माना गया है जहां शहरी मतदाताओं का हिस्सा 75 प्रतिशत से ऊपर हो।

तालिका–2

मतदान : वोट/पंजीकृत वोटर (प्रतिशत में)

निर्वाचन क्षेत्र की प्रकृति	निर्वाचन क्षेत्र की संख्या	1999	2004
ग्रामीण	156	60.7	58.8
अर्ध-शहरी	313	61.5	59.1
शहरी	74	53.0	53.7

श्रोत: EPW-18-24 Dec 2004, Page-5413

तालिका–3		
लोकसभा एवं विधानसभा चुनावों में औसत मतदान राज्यवार तुलना		
राज्य	1989–2004 के बीच लोक सभा चुनावों में औसत मतदान (%)में	1989–2003 के बीच विधान सभा चुनावोंमें औसत मतदान (%)में
आंध्र प्रदेश	66.6	70.2
अरूणाचल प्रदेश	58.9	74.6
असम	71.1	76.1
बिहार	60.7	62.1
छत्तीसगढ़	52.1	71.3
दिल्ली	49.2	55.4
गोवा	53.7	68.8
गुजरात	47.7	59.4
हरियाणा	66.5	68.5
हिमाचल प्रदेश	60.3	71.3
जम्मू–कश्मीर	37.3	48.8
झारखंड	55.6	उ.न.
कर्नाटक	63.3	68.0
केरल	72.7	72.4
मध्य प्रदेश	53.1	58.3
महाराष्ट्र	55.6	64.9
मणिपुर	67.7	87.6
मेघालय	58.4	74.8
मिजोरम	64.8	79.4
नागालैण्ड	75.6	71.8
उड़ीसा	58.7	62.9
पंजाब	54.4	52.5
राजस्थान	51.9	60.4
सिक्किम	72.5	78.6
तमिलनाडु	62.4	64.8
त्रिपुरा	74.4	78.0
उत्तर प्रदेश	50.7	53.4
उत्तरांचल	48.1	54.3
पश्चिम बंगाल	78.6	78.3

श्रोत: EPW-18-24 Dec 2004, Page-5413

तालिका-2 की विवेचना से स्पष्ट है कि जो निर्वाचन क्षेत्र स्पष्टत: अग्रवर्ती (शहरी) हैं वहां लोगों की दिलचस्पी चुनावों में कम है और जो चुनाव क्षेत्र स्पष्टत: पिछड़े (ग्रामीण) हैं वहां लोगों की बुर्जुआ जनतांत्रिक व्यवस्था में दिलचस्पी ज्यादा है। और यह अन्तर भी मामूली नहीं है, यह अन्तर 5 प्रतिशत से अधिक है। वैसे तालिका यह भी दिखाती है कि मध्यवर्ती निर्वाचन क्षेत्रों (अर्ध-शहरी) के लोग वर्तमान राजनीतिक व्यवस्था में सबसे अधिक दिलचस्पी लेते हैं।

राजनीतिक व्यवस्था के प्रति लोगों के रुख को समझने के लिए हम एक और तालिका प्रस्तुत कर रहे हैं। इस तालिका (तालिका-3) में मतदान के राज्यवार आंकड़े हैं और ये आंकड़े 1989 से 2004 के बीच छह लोक सभा चुनावों में औसत मतदान के आंकड़े हैं। इस तालिका में विभिन्न राज्यों में 1989 से 2003 के बीच हुए विधानसभा चुनावों में औसत मतदान के आंकड़े हैं। यह तालिका भी इससे पूर्ववर्ती तालिका के निष्कर्ष की पुष्टि करती है, कि जहां सामाजिक पिछड़ापन है वहां राजनीतिक व्यवस्था में लोगों की आस्था या दिलचस्पी ज्यादा है और जो इलाके पूंजीवादी विकास की दृष्टि से अग्रणी है वहां राजनीतिक व्यवस्था के प्रति लोगों की उदासी ज्यादा है।

तालिका-3 को ध्यान से देखने पर पता चलता है कि केवल तीन प्रान्त - दिल्ली, गुजरात व उत्तरांचल - ऐसे हैं जहां लोकसभा चुनावों में मतदान 50 प्रतिशत से कम रहा (जम्मू-कश्मीर वहां चल रहे सशस्त्र-संघर्षो की वजह से अपवाद है, वहां 1991 में चुनाव भी नहीं करवाये जा सके)। शेष पूरे देश में लोकसभा चुनावों में मतदान 50 प्रतिशत से ऊपर रहा। अब कम से कम दिल्ली, गुजरात व उत्तरांचल तो भारत में सामंतवाद के गढ़ नहीं माने जा सकते हैं!

तालिका-3 को ध्यान से देखने पर यह भी पता चलता है कि आम तौर पर, लोकसभा चुनावों की तुलना में भारतीय जनता विधानसभा चुनावों में ज्यादा दिलचस्पी लेती है। यह दिलचस्पी ग्राम सभा एवं नगर पालिका चुनावों में और बढ़ जाती हैं। राजनीतिक ढांचे में नीचे जाने पर लोगों की दिलचस्पी बढ़ती जाती है हालांकि चुनी जाने वाली संस्थाएं अपने ऊपर के निकायों की तुलना में ज्यादा अधिकाररहित होती हैं – इस दिलचस्प परिघटना का विश्लेषण हम इस लेख में आगे करेंगे। अभी हाल-फिलहाल हम यही स्थापित करना चाहते है कि जिस तर्क पर 'चुनाव बहिष्कार' की रणकौशलात्मक लाइन आधारित होनी चाहिए – राजनीतिक व्यवस्था के प्रति अविश्वास व मोहभंग – वह आधार समकालीन भारत में मौजूद नहीं है; कि आंध्र प्रदेश में कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों द्वारा चुनाव बहिष्कार का नारा देने के बावजूद 66.6 प्रतिशत लोग लोकसभा चुनावों में औसतन अपना मत डालते हैं और विधानसभा चुनावों में यह तादाद बढ़कर 70.2 प्रतिशत हो जाती है।

अपने लेख के अगले हिस्से में हम थोड़ी और गहरायी में जायेंगे और यह समझने का प्रयास करेंगे कि भारतीय जनता के किन हिस्सों का बुर्जुआ जनतांत्रिक व्यवस्था के प्रति आकर्षण ज्यादा है और किन का कम।

IV

राजनीतिक व्यवस्था में दिलचस्पी की प्रकृति

सामान्य बुद्धि के आधार पर यही धारणा बनती है कि देश की आबादी में जो समुदाय जितना पिछड़ा होगा, राजनीतिक व्यवस्था में उसकी दिलचस्पी उतनी ही कम होनी चाहिए। आम

चिन्तन यही होता है कि दलितों, आदिवासियों, पिछड़ी जातियों, महिलाओं इत्यादि की राजनीतिक व्यवस्था में दिलचस्पी उच्च जातियों एवं पुरूषों की तुलना में कम होनी चाहिये। ऐसे ही यह चिन्तन भी होता है कि अनपढ़ एवं गरीब लोग, पढ़े-लिखे एवं अमीर लोगों की तुलना में राजनीतिक व्यवस्था के प्रति ज्यादा उदासीन हैं।

सामान्य बुद्धि पर अत्यधिक भरोसा करने के बजाय कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों को यही प्रयास करना चाहिए कि वे निष्कर्ष निकालने के पहले तथ्यों का वस्तुनिष्ठ संग्रह करें। हमारे कम्युनिस्ट क्रांतिकारी शिविर के पास भारतीय जनता की राजनीतिक व्यवस्था में दिलचस्पी को नापने के लिए कोई सर्वेक्षण नहीं हैं। ऐसे में यदि हम बुर्जुआ बुद्धिजीवियों द्वारा किये गये किन्हीं विश्वसनीय सर्वेक्षणों को सामान्य बुद्धि के ऊपर तरजीह देते हैं तो गलत नहीं होगा। सन् 2004 के लोकसभा चुनावों के समय एक 'राष्ट्रीय चुनाव अध्ययन' (National Election Study) किया गया। इसमें नमूने का आकार पर्याप्त बड़ा था। इसमें 27,185 लोगों से आमने-सामने के साक्षात्कार किये गये। साक्षात्कार में 43 परिवेश सम्बन्धी जानकारियों के अलावा 52 प्रश्न पूछे गये। सामान्य चुनाव पूर्व सर्वेक्षणों एवं एक्जिट-पोल के मुकाबले इसमें वैज्ञानिकता काफी उच्च स्तर की थी। इसमें आबादी के भौगोलिक फैलाव, आबादी में विभिन्न समुदायों के अनुपात, प्रश्नकर्ताओं का प्रशिक्षण इत्यादि का ध्यान रखा गया। इस सर्वेक्षण की गुणवत्ता विश्वस्तरीय मानी जा रही है। इस सर्वेक्षण के द्वारा संग्रहित तथ्यों के आधार पर हम कुछ बातें कहेंगे और सामान्य बुद्धि से निर्मित धारणाओं पर इन तथ्यों से निकलने वाले निष्कर्षों को वरीयता देंगे।

'राष्ट्रीय चुनाव अध्ययन 2004' के तथ्यों के आधार पर हम 2004 के चुनावों में भारतीय जनता के विभिन्न समुदायों/तबकों द्वारा किये गये मतदान की एक तस्वीर (तालिका-4) प्रस्तुत कर रहे हैं।

तालिका-4

विभिन्न सामाजिक समुदायों की मतदान में हिस्सेदारी (2004)

समुदाय/तबका	वोट/पंजीकृत वोटर (%)में
अखिल भारतीय	58
दलित	60
आदिवासी	61
अन्य पिछड़े वर्ग	58
उच्च जातियां	56
मुसलमान	46
औरतें	54

स्रोतः E P W-18-24 Dec. 2004, page-5414

सामान्य बुद्धि की धारणाओं के विपरीत हम यहां देखते है कि दलित एवं आदिवासी दोनों समुदायों ने 2004 के चुनावों में अखिल भारतीय औसत से अधिक मतदान किया। अन्य पिछड़े वर्ग (जो कि आबादी का करीब 44 प्रतिशत हैं) ने 58 प्रतिशत मतदान किया। इनकी तुलना में उच्च

जातियों में से 56 प्रतिशत लोगों ने मतदान किया। जबकि राजनीतिक व्यवस्था के प्रति सबसे ज्यादा अविश्वास मुसलमानों का था जिनमें से केवल 46 प्रतिशत ने अपने मत का प्रयोग किया।

यदि वास्तविक स्थिति हमारे मन की धारणाओं से उल्टी है और उच्च जातियों की तुलना में दलित, आदिवासी एवं अन्य पिछड़े वर्ग राजनीतिक व्यवस्था में ज्यादा दिलचस्पी ले रहे हैं तो यह वस्तुस्थिति भारतीय राजनीतिक व्यवस्था और भारतीय समाज से उसके रिश्तों के सम्बंध में एक नये विश्लेषण की मांग करती है। इस लेख के अगले हिस्से में हम ऐसा विश्लेषण करने का प्रयास करेंगे। मगर पहले मतदान की वर्गीय स्थिति के सम्बंध में कुछ बातें। 'राष्ट्रीय चुनाव अध्ययन 2004' ने विभिन्न वर्गों के हिसाब से मतदान के कोई आंकड़े प्रस्तुत नहीं किये हैं। अत: हमें घुमा-फिरा कर नतीजे निकालने पड़ेंगे। तालिका-3 व तालिका- 4 के आधार पर ऐसे नतीजे निकाले जा सकते हैं।

ग्रामीण भारत शहरी भारत की तुलना में कहीं ज्यादा गरीब व अनपढ़ है। ऐसे ही देश के आदिवासी, दलित एवं अन्य पिछड़े वर्गों में उच्च जातियों की तुलना में ज्यादा अशिक्षा व गरीबी पायी जाती है। ऐसी स्थिति में यह नतीजा निकालना कि शासक वर्गों के सम्पन्न सदस्यों की तुलना में गरीबों की भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में दिलचस्पी कतई कम नहीं है, कहीं से भी गलत नहीं होगा। यानी कि मजदूर मेहनतकशों की जमातों में से भारी संख्या में लोग मतदान करने आते हैं, यह मानना ठीक ही होगा।

सभी वर्गों/तबकों की महिलायें मिलकर जितना मतदान करती हैं वह राष्ट्रीय औसत से करीब 4.5 प्रतिशत कम है। यह किसी गिरावट की वजह से हुआ है, ऐसे तथ्य नहीं है बल्कि 1989 से 1999 के बीच के 5 चुनावों में भी यही देखा गया (राष्ट्रीय चुनाव अध्ययन द्वारा जिन सर्वेक्षणों में नमूने का आकार छोटा था) है कि 100 मर्दों की तुलना में 90 से कम ही महिलायें वोट डालने आती हैं। वर्ष 2004 के चुनाव में वोट डालने वाले 100 पुरूषों की तुलना में 89.1 औरतों ने अपने वोट डाले। वैसे देश की आबादी में 100 पुरूषों के तुलना मे 93.3 महिलायें हैं। अत: यहां पिछड़ेपन और राजनीतिक व्यवस्था में कम दिलचस्पी का समीकरण काफी स्पष्ट है।

हमारे लिये पहेली मुसलमानों या महिलाओं की राजनीतिक व्यवस्था में कम भागीदारी नहीं है। हमारे लिये पहेली आदिवासियों, दलितों एवं अन्य पिछड़े वर्गों द्वारा राजनीतिक व्यवस्था में बढ़ी हुई दिलचस्पी है।

V
जाति एवं राजनीतिक व्यवस्था

बात को समझने के लिए पहले हम भारतीय समाज में विभिन्न वर्णों/जातियों की मात्रात्मक स्थिति को संज्ञान में लेंगे। 1931 के बाद भारत में किसी भी जनगणना में व्यक्ति से उसकी जात के बारे में नहीं पूछा गया है। अत: जातियों के आकार सम्बंधी आंकड़े उपलब्ध नहीं है। तब भी 1931 के आंकड़ों के आधार पर एवं अन्य साक्ष्यों के आधार पर मंडल आयोग ने भारतीय समाज

में जातियों व धार्मिक समूहों के आकार का एक आकलन किया। तालिका के रूप में उसे हम यहां (तालिका-5)पेश कर रहे हैं।

तालिका–5	
भारत में जातियों एवं धार्मिक समूहों का आकार	
श्रेणी	**कुल आबादी में (%)**
अनुसूचित जातियां एवं अनुसूचित जनजातियां	**22.56**
अनुसूचित जातियां	**15.05**
अनुसूचित जनजातियां	**07.51**
गैर-हिन्दू समुदाय व धार्मिक समूह	**16.16**
मुसलमान	**11.19**
ईसाई	**02.16**
सिख	**01.67**
बौध	**00.67**
जैन	**00.47**
उच्च हिन्दू जातियां एवं समूह	**17.58**
ब्राहमण (भूमिहार समेत)	**05.52**
राजपूत	**03.90**
मराठा	**02.21**
जाट	**01.0**
वैश्य/बनिये	**01.88**
कायस्थ	**01.07**
अन्य	**02.0**
शेष हिन्दू जातियां/समूह जिन्हें अन्य पिछड़े वर्ग माना जाये	**43.70**
(धार्मिक समूह जिन्हें अन्य पिछड़े वर्ग माना जाये)	**(08.40)**
कुल योग	**100.00**

स्रोत : 'India's Silent Revolution' Christopher Jaffrelot, permanent Black,Delhi, pp-323

जाति भारतीय सामंती व्यवस्था की ईंट थी। वह एक निश्चित सोपान में अवस्थित थी और जड़ थी। अंग्रेजों के जमाने की अर्थव्यस्था और प्रशासनिक नीतियों के कारण यह जड़ता टूटने लगी

और नीचे की जातियों के सदस्य ऊपर की जातियों के साथ बराबरी पाने की हसरतें पालने लगे। अंग्रेजों के काल में नीचे की जातियों के इस उभार को सबसे ज्यादा जिस चीज ने प्रोत्साहित किया वह चीज थी – आरक्षण। अंग्रेजों के जाने के बाद 1950 के संविधान के तहत आरक्षण नीति को न केवल जारी रखा गया बल्कि इसे और व्यापक व व्यवस्थित किया गया। अब अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जन-जातियों के लिए शैक्षणिक संस्थाओं में प्रवेश, सरकारी नौकरियों में भर्ती, नौकरियों में तरक्की, हर जगह इन समूहों की आबादी के अनुपात में आरक्षण की व्यवस्था की गयी। राजनीतिक व्यवस्था में, चुनावों में भी, इन समूहों के लिए सीटें आरक्षित की गयीं। इससे समाज की पुरानी जड़ता और टूटी और ये सम्भावनाएं खुलीं कि दलितों और आदिवासियों के बीच के तेज-तर्रार सदस्य शासक वर्ग के सदस्य बनें। अपने बीच के सदस्यों की हैसियत में वृद्धि का झूठा गुमान पूरी दबी-कुचली जातियों को हुआ। नव प्राप्त ''इज्जत'' से जातीय गतिशीलता (cast mobility) और बढ़ी। जो राजनीतिक तंत्र इस गतिशीलता को प्रोत्साहित करता हो और इस बात की भी संभावनाएं पैदा करता हो कि दबी-कुचली जातियों के सदस्य राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री, मुख्यमंत्री .... बनें। भला उस राजनीतिक तंत्र में, समाज की वर्गीय लामबंदी की कमजोर स्थितियों में, भला दबी-कुचली जातियों की दिलचस्पी व भागीदारी क्यों न होती।

इसी के समानान्तर एक दूसरी प्रक्रिया भी चल रही थी। पूरे भारतीय समाज का पूंजीवादीकरण हो रहा था और उसके हिस्से के बतौर भारत के देहात और कृषि का भी पूंजीवादीकरण हो रहा था। कृषि में बहुत सीमित भूमि सुधार हुए और कृषि की नयी तकनीक (हरित क्रांति) को सरकारों द्वारा प्रोत्साहित किया गया। इन आर्थिक कदमों/नीतियों ने मध्यवर्ती जातियों एवं अन्य पिछड़े वर्गो के प्रक्रम में पड़ने वाली कई सबल जातियों के सम्पन्न होने के रास्ते खोले। इन जातियों के सदस्यों की बढ़ती सम्पन्नता ने उनमें राजनीतिक महत्वाकांक्षाएं भी पैदा की। राजनीतिक व्यवस्था ऐसी ही थी कि उसके भीतर जातीय गोलबन्दी करके आगे बढ़ा जा सके। दक्षिणी भारत में यह जातीय गोलबंदी आधारित राजनीतिक सरगर्मियां अंग्रेजों के जमाने में ही शुरू हो गयी थी। उत्तरी भारत में वही प्रक्रिया, हालांकि एक भिन्न रूप में, काफी बाद में शुरू हुई। दोनों ही स्थितियों में परिणाम एक जैसे थे – मध्यवर्ती एवं पिछड़े वर्गो की जातियों के सदस्यों का चुनावी दंगल में उतरना और सफलताएं पाना। यह सामाजिक परिघटना कितनी सुस्पष्ट व प्रभावशाली रही है, इसका एक अंदाजा देने के लिए हम एक तालिका (तालिका-6) दे रहे हैं। यह तालिका हिंदी क्षेत्र (हिमाचल प्रदेश, हरियाणा, राजस्थान, दिल्ली, उत्तर प्रदेश, उत्तरांचल, मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़ बिहार, झारखंड) से 1980 से 1999 के दौरान चुने गये संसदों का जातिगत ब्यौरा है। इसे क्रिस्टौफ जैफरलौट ने व्यक्तिगत साक्षात्कारों के आधार पर तैयार किया है।

तालिका-6							
हिंदी क्षेत्र से 1980 से 1999 के बीच चुने गये सांसदों की जातीय एवं धार्मिक पृष्ठभूमि (%)							
	1980	1984	1989	1991	1996	1998	1999
उच्च जातियां	**40.88**	**46.9**	**38.2**	**37.11**	**35.3**	**34.67**	**30.9**
बाह्मण	18.22	19.91	12.44	16.29	15.49	12.44	11.3
राजपूत	11.56	15.49	15.11	14.03	14.03	13.33	10.0
भूमिहार	03.11	02.65	02.22	01.81	01.77	01.78	03.2
बनिया/जैन	04.89	05.31	03.11	01.81	01.77	03.56	02.7
कायस्थ	00.89	01.33	02.22	01.81	01.33	01.78	02.
अन्य	02.21	02.21	03.1	01.36	00.89	01.78	0.9
मध्यवर्ती जातियां	**5.33**	**5.31**	**8.00**	**5.43**	**7.53**	**8.89**	**6.4**
जाट	4.89	4.87	6.67	5.43	6.64	7.11	5.4
मराठा	0.44	0.44	0.89	.	0.89	0.89	0.5
अन्य	–	.	0.44	.	.	0.89	0.5
अन्य पिछड़े वर्ग	**13.74**	**11.1**	**20.87**	**22.6**	**24.8**	**23.56**	**22.2**
यादव	5.33	6.19	9.33	7.69	8.41	6.67	7.2
कुर्मी	4.44	1.77	7.11	9.95	7.08	7.56	5.0
लोधी	0.44	0.44	1.78	1.36	1.77	1.78	0.9
कोयरी	0.44	.	0.44	0.91	0.44	1.33	0.5
गूजर	0.44	0.89	0.44	0.91	0.44	0.89	0.5
माली	0.89	0.44	0.44	0.45	0.89	.	.
पनवार	–	.	0.44	0.91	0.44	.	.
जायसवाल	–	.	.	.	0.89	.	1.4
अन्य	1.76	1.32	0.89	0.45	4.41	5.32	6.2
अनुसूचित जाति	**17.78**	**17.26**	**17.78**	**18.1**	**18.14**	**18.22**	**17.8**
अनुसूचित जनजाति	**7.56**	**7.52**	**7.56**	**8.14**	**7.52**	**7.56**	**7.3**
मुसलमान							
अन्य	**11.56**	**9.73**	**5.78**	**4.52**	**3.54**	**5.33**	**5**
अल्पसंख्यक साधु	**0.89**	**0.44**	**0.44**	**0.9**	**0.89**	**0.89**	**0.9**
पृष्ठभूमि अज्ञात	**0.44**	–	–	**0.9**	–	–	**0.9**
कुल	**0.89**	**2.21**	**0.89**	**1.36**	–	–	**9**
	100	**100**	**100**	**100**	**100**	**100**	**100**

स्रोत : **'India's Silent Revolution' Christopher Jaffrelot, permanent Black,Delhi, pp-351**

भारतीय संसद में मध्यवर्ती जातियों एवं अन्य पिछड़े वर्गों के लिए आरक्षण नहीं है। इसके बावजूद तालिका यह दिखाती है कि 1980 से 1999 के बीस वर्षों में उच्च जातियों के सांसदों की संख्या में करीब दस प्रतिशत गिरावट आयी है। इन सांसदों की जगह मध्यवर्ती जातियों एवं (मुख्यतः) अन्य पिछड़े वर्गों की जातियों के सांसदों ने ले ली है। इस तालिका में अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों के सांसदों की संख्या जस की तस है, वे अपने लिए आरक्षित सीटों के बाहर चुनाव जीतने में अभी असफल हैं। चुनावी दंगल में मध्यवर्ती जातियों की स्थिति 1980 के पहले ही काफी ठीक हो चुकी थी। '70 के दशक में उनके प्रतिनिधि चौधरी चरण सिंह देश के प्रधानमंत्री भी बन चुके थे। 1980 से 1999 के बीच मुख्य तरक्की अन्य पिछड़े वर्ग ने की है। चुनावी दंगल की इन सफलताओं की बदौलत पिछड़े वर्ग की जातियों की सामाजिक हैसियत में जो उन्नति हो रही है इससे इस बात को आसानी से समझा जा सकता है कि कि क्यों अन्य पिछड़े वर्ग (OBC) के सदस्य राजनीतिक व्यवस्था में दिलचस्पी लेते हैं और भारी संख्या में वोट डालने जाते हैं।

इस परिवर्तन के बावजूद राष्ट्रीय स्तर पर अभी भी उच्च जातियां आबादी में अपनी संख्या की तुलना में राजनीति में काफी प्रभावशाली हैं। उल्टे अपनी विशाल संख्या के अनुपात में अभी भी अन्य पिछड़े वर्ग राजनीतिक तौर पर पिछड़े ही हैं। राजनीतिक क्षेत्र में जातिगत बराबरी की यह प्रक्रिया अभी आगे बढ़ेगी। वैसे बिहार वह पहला राज्य बन चुका है जहां अन्य पिछड़े वर्गों ने अपनी आबादी के अनुपात में सीटें जीती हैं।

इन तालिकाओं और इस ब्यौरे के द्वारा हम जिस बात को स्थापित करना चाहते थे वह यह कि भारत की राजनीतिक व्यवस्था इस देश के गरीबों मेहनतकशों के विशाल समूह को सामाजिक जीवन में भले ही कुछ न देती हो मगर उसके बावजूद वह उनके लिए सीमित राजनीतिक बराबरी प्राप्त करने का उपकरण है। उन्हें लगता है कि यदि आरक्षण के कारण एवं चुनावी तंत्र की बदौलत उनकी जात के लोग ऊपर जा सकते हैं तो उनके लिए इसमें कुछ है। वे बुर्जुआ राजनीतिक व्यवस्था को एक ऐसे उपकरण के रूप में देखते हैं जिसके द्वारा वे सदियों के अपमान से मुक्त हो सकते हैं और सवर्णों की बराबरी कर सकते हैं। देश के गरीबों- मेहनतकश के लिए अभी जातिगत पहचान काफी महत्वपूर्ण चीज है और जब तक सचेत राजनीतिक प्रचार के परिणामस्वरूप एवं वर्गीय गोलबंदी के परिणामस्वरूप वर्गीय पहचान जातीय पहचान पर भारी नहीं पड़ने लगती तब तक राजनीतिक व्यवस्था में यह ''अतार्किक विश्वास'' बना रहेगा। ऐसी स्थिति में कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों को धैर्य से काम करना होगा और लम्बे समय तक गरीबों-मेहनतकशों के बीच उनके जातिगत नेताओं की वर्गीय पक्षधरता का भंडाफोड़ करते हुए वर्गीय पहचान को स्थापित करना होगा। यह एक श्रम साध्य काम है, मगर इसे किये बगैर वह स्थिति पैदा नहीं हो सकती है जब हम चुनाव बहिष्कार का नारा दे और जनता उस नारे को अपनी बात माने।

वैसे भारतीय समाज के एक अन्य समूह में अपनी तबकायी पहचान जाग रही है और उसमें अपनी स्थिति को लेकर क्षोभ गहरा रहा है। भारतीय बुर्जुआ वर्ग के शुभचिन्तक उस तबके में भी यह वहम पैदा करना चाहते है कि इस राजनीतिक व्यवस्था में हिस्सेदारी करके तुम्हें मुक्ति और बराबरी मिल सकती है। यह तबका है महिलायें। आजकल बड़े जोर-शोर से महिला आरक्षण की बातें चल रही हैं। नगरपालिका, ग्राम सभा, जिला पंचायत स्तर पर महिला आरक्षण दे दिया गया है अब बात चल रही है कि राष्ट्रीय संसद एंव प्रांतीय विधान सभाओं में भी इसका इंतजाम किया जाये। यदि ऐसा हो जाता है तो पूंजीपति वर्ग की राजनीतिक व्यवस्था के प्रति महिलाओं का मोह

बढ़ेगा। और इस मामले को भी समझ कर कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों को महिलाओं को साफ करना पड़ेगा कि इससे नारी उत्पीड़न सामाजिक स्तर पर समाप्त नहीं हो रहा है कि यह केवल महिलाओं के एक हिस्से की राजनीतिक सक्रियता व हैसियत बढ़ायेगा, कि नारी उत्पीड़न से वास्तविक मुक्ति वर्गीय लामबंदी, वर्ग संघर्ष, क्रांति और क्रांति के उपरांत नये उत्पादन व सम्पत्ति सम्बन्धों पर गठित एक नये समाज में ही मिल सकती है।

भारतीय बुर्जुआ वर्ग 'आभासी न्याय' की ये स्थितियां इसलिए पैदा करने में सफल है क्योंकि सामाजिक पिछड़ेपन की तुलना में उसकी राजनीतिक व्यवस्था थोड़ी उन्नत है। वर्ग संघर्ष के ठंडे दौर में बुर्जुआ इस अन्तर – सामाजिक दशाएं एवं एक अपेक्षाकृत उन्नत राजनीतिक व्यवस्था के बीच का अन्तर – का बखूबी फायदा उठा रहा है। यदि वर्ग संघर्ष उग्र होते तो वह इतना सफल न होता क्यों तब लोग वास्तविकता एवं आभास के बीच अंतर कर रहे होते।

VI
राजनीतिक पार्टियां और सामाजिक आधार

राजनीतिक पार्टियों के सामाजिक आधार का अंदाजा लगाने के लिए हम जितना वस्तुनिष्ठ हो सकते हैं उतना होने का प्रयास करेंगे। 'राष्ट्रीय चुनाव अध्ययन 2004' के आंकड़ों का ही सहारा लेंगे।

तालिका–7

वर्ग के हिसाब से मुख्य पार्टियों के वोटों का बंटवारा (2004)

वर्ग	जवाब देने वालों की सं.	संयु. प्रगतिशील गठबंधन	कांग्रेस	कांग्रेस गठबंधन	राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन	भाजपा	भाजपा संश्रयकारी	वामपंथी	बसपा	सपा
उच्च मध्यम	3630	33%	26%	7%	42%	31%	12%	7%	3%	4%
निम्न मध्यम	4334	36%	28%	8%	38%	25%	13%	8%	4%	4%
गरीब	7783	38%	27%	11%	36%	22%	14%	7%	5%	6%
अत्यंत गरीब	6803	38%	25%	13%	31%	16%	15%	9%	8%	5%
कुलयोग	**22550**	**36%**	**26%**	**10%**	**36%**	**22%**	**14%**	**8%**	**5%**	**5%**

स्रोत: E P W-18-24 Dec. 2004, page-5394

तालिका–7 पर गौर करने से यही स्पष्ट होता है कि इससे कोई साफ तस्वीर नहीं उभर रही है। इस तालिका में प्रस्तुत तथ्यों के आधार पर चार ही बातें स्पष्टत: कही जा सकती हैं। पहली, यह कि भाजपा का आधार समाज के अमीरो में ज्यादा है और जैसे–जैसे यह पार्टी समाज के गरीब वर्गों की ओर बढ़ती है वैसे–वैसे इसका आधार घटता जाता है और अत्यंत गरीबों में लगभग आधा हो जाता है। दूसरी यह कि बसपा मूलत: गरीब आधारित पार्टी है। अत्यंत गरीबों में इसका साथ देने वाले अमीरों की तुलना में दो गुने से ज्यादा हैं। तीसरी, कांग्रेस के संश्रयकारी उसी नाव में सवार हैं जिसमें बसपा। चौथी, शेष पार्टियों या संश्रयकारी समूहों, स्वतंत्र प्रत्याशियों इत्यादि के बारे में कोई स्पष्ट बात नहीं कही जा सकती है सिवाय इसके कि ये सभी वर्गों में पैर टिकाये हुए इंद्रधनुषी पार्टियां हैं।

तालिका–8

जाति के हिसाब से मुख्य पार्टियों/गठबंधनों के वोट का बंटवारा (%)

क. स.	जाति/समूह	संयुक्त प्रगतिशील गठबंधान	राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधान	वामपंथी	बसपा	सपा
I	हिन्दू ऊंची जाति	16.6	**37.4**	21.1	2.9	11.4
II	हिन्दू ऊपर के अन्य पिछड़े वर्ग	21.2	21.9	9.4	7.3	**34.1**
III	हिन्दू नीचे के अन्य पिछड़े वर्ग	15.4	17.5	19.7	6.2	9.8
	आंशिक योग (II+III)	**36.6**	**39.4**	**29.1**	**13. 5**	**43.9**
IV	दलित	16.5	9.4	19.2	**76.7**	6.2
V	आदिवासी	8.5	5.4	7.1	0.6	0.0
VI	मुसलमान	15.0	2.5	9.3	3.8	**37.5**
	आंशिक योग (IV+V+IV)	**40.0**	**17.5**	**35.6**	**81.1**	**43.7**
VII	अन्य	6.9	5.7	14.0	2.5	1.0
VIII	जवाब देने वालों की सं.	5,113	5,476	1,413	681	501
IX	जवाब देने वालों का प्रतिशत	**27.6**	**29.5**	**7.6**	**3.7**	**2.7**

स्रोत: E P W-18-24 Dec. 2004, page-5393

मगर वर्गीय आधार के बजाय यदि पार्टियों का जातिगत आधार सुनिश्चित करने का प्रयास किया जाये तब तस्वीर वहीं ज्यादा स्पष्ट हो जाती है। तालिका- 8 में बहुत स्पष्ट है कि सपा का गढ़ अन्य पिछड़े वर्गों की उच्च जातियां और मुसलमान हैं। बसपा का गढ़ दलित हैं। 'राष्ट्रीय चुनाव अध्ययन 2004' ने वोट के जातिगत ब्यौरे में दोनों बड़े गठबंधनों में भाजपा व कांग्रेस की स्थिति के अलग से आंकड़े नहीं दिये हैं, इसलिए हमें इन गठबंधनों के समग्र चरित्र पर टीका-टिप्पणी करने से संतुष्ट होना होगा। राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन का गढ़ उच्च जातियां है,

और वह मुसलमानों में उतनी ही अलोकप्रिय है जितनी की बसपा उच्च जातियों में। संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन एवं वामपंथी का कोई जातीय आधार नहीं है, जाति के मामले में वे सभी जातियों को साथ लेकर चल रहे हैं। वैसे मुसलमान आबादी में अपनी गिनती की तुलना में संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन को थोड़ा ज्यादा पसन्द करते हैं।

इस विवेचना से बुनियादी निष्कर्ष यह निकलता है कि भारतीय 'चुनावबाज पार्टियों' की वर्तमान स्थिति में जाति या सम्प्रदाय, वर्ग से ज्यादा संवेदनशील मुद्दा है। यह स्थिति वर्ग-संघर्ष के कमजोर होने की अभिव्यक्ति है और उसके विकास में बाधक भी।

भारतीय चुनावबाज पार्टी राजनीति की दूसरी सच्चाई यह है कि यह गठबंधन राजनीति की स्थिति में धकेल दी गयी है। धकेलने वाली परिघटना है मजबूत क्षेत्रीय पार्टियों का उबरना। क्षेत्रीय पार्टियों का उबरना भी जातीय गतिशीलता के साथ जुड़ी हुई घटना है और कई मायनों में उस सामाजिक परिघटना की राजनीतिक अभिव्यक्ति है। इस परिघटना की शुरूआत भी आज की नहीं है। यह अंग्रेजों के जमाने में ही शुरू हो गयी थी। यहां उल्लेखनीय बात केवल इतनी है कि यह उत्तरी भारत में विगत तीन-चार दशकों में सामने आयी है। दक्षिणी भारत में यह सब पहले ही घट चुका है अलबत्ता एक भिन्न रूप में।

दक्षिणी भारत एवं महाराष्ट्र में निम्न जातियों की जातीय गतिशीलता जिस रूप में हुई है उसे सामान्यतः नृ-जातिकरण (caste ethnicisation) के नाम से पुकारा जाता है। इसमें निम्न जातियां, उच्च जातियों की नकल करने के बजाय एक दूसरे के करीब आती है और अपनी साझी उत्पत्ति व साझी पहचान ढूंढती हैं। यह सब उच्च जाति (सामान्यतः ब्राह्मण) के विरोध में होता है। इस प्रक्रिया में निम्न जातियां आपस में विवाह की इजाजत देती हैं। महाराष्ट्र व दक्षिणी भारत में यह परिघटना ब्राह्मण-विरोधी आंदोलन के रूप में सामने आयी।

उत्तरी भारत में जो परिघटना घटी उसे सांस्कृतिकरण कहा जाता है। इसमें निम्न हिन्दू जाति या कोई जनजाति अपने रीति-रिवाज, विचारधारा, जीवन शैली को बदलकर किसी उच्च जाति की नकल करने की कोशिश करती है और इस प्रक्रिया में ऊपर उठने की कोशिश करती है। ऊपर उठने की चेष्टाओं में वह सामाजिक तनाव को जन्म देती व बढ़ाती है। उत्तरी भारत में जातीय गतिशीलता इस रूप में सामने आयी।

उत्तरी व दक्षिणी भारत में जातीय गतिशीलता के रूपों में भिन्नता का कारण यह था कि उत्तरी भारत में दक्षिणी भारत की तरह जाति पिरामिड उतना तीखा नहीं था। उसके शीर्ष पर कई जातियां थी। ऐसे में एक ही जाति (ब्राह्मण) के खिलाफ अभिजात पदों व सामाजिक हैसियत के लिए कोई संघर्ष नहीं खड़ा हो सकता था। उसे उच्च जातियों के पूरे गठबंधन से लोहा लेना होता जिसके लिए कहीं ज्यादा आवेग चाहिए था। इस आवेग को इकट्ठा होने में काफी समय लगा और

इस दौरान निम्न जातियों का काफी हद तक सांस्कृतिकरण हुआ। सांस्कृतिकरण जाति के बुनियादी चौखटे को चुनौती नहीं दे सकता था। यह उसके भीतर तनाव को ही जन्म दे सकता था।

यदि दक्षिणी भारत में सत्यशोधक समाज, द्रविड़ मुनेत्र कड़गम, कनार्टक के समाजवादी इस जातीय गातिशीलता की राजनीतिक अभिव्यक्तियां हैं तो उत्तरी भारत में अकाली दल, बसपा, लोकदल, समाजवादी पार्टियां हैं। इस परिघटना ने पूरे भारत में कांग्रेस की अखिल भारतीय हैसियत को कमजोर कर दिया है और वह स्थिति पैदा कर दी है कि अब केन्द्र में किसी एक पार्टी के लिए अकेले दम पर सरकार गठित कर देना काफी मुश्किल हो चुका है।

VII

रणकौशलात्मक निष्कर्ष

भारत की राजनीतिक व्यवस्था की उक्त विवेचना के आधार पर कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों के लिए जो महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकलते हैं वे इस प्रकार है:-

1-भारत की राजनीतिक व्यवस्था एक आधुनिक बुर्जुआ व्यवस्था होने के नाते उससे कहीं ज्यादा मजबूत व टिकाऊ है, जितना कम्युनिस्ट क्रांतिकारी इसे सामान्यत: समझते हैं। बुर्जुआ जनवाद की बातें करने वाली एवं एक हद तक बुर्जुआ जनवाद की गुंजाइश देने वाली इस व्यवस्था की मेहनतकश वर्गों में काफी हद तक स्वीकार्यता है। वास्तविक जीवन में यह उन्हें भले कुछ न दे परन्तु उन्हें पुराने समाज की जलालत की तुलना में इसमें भागीदारी करके जो सीमित राजनीतिक मुक्ति मिलती है वह उनमें इसके प्रति आकर्षण पैदा करती है।

ऐसी हालत में कम्युनिस्ट क्रातिकारियों को यह समझना चाहिये कि अभी मेहनतकश वर्गों का इस व्यवस्था से कतई मोहभंग नहीं हुआ है, कि वर्तमान स्थिति में उनका मुख्य दायित्व इस राजनीतिक व्यवस्था का भंडाफोड़ है, कि यदि वे भंडाफोड़ से आगे के कोई भी नारे देते हैं मसलन चुनाव बहिष्कार या दीर्घकालिक सत्ता दखल तो ये नारे इसलिए असरहीन होंगे क्योंकि मेहनतकश वर्गों का अभी राजनीतिक व्यवस्था में 'अतार्किक विश्वास' बना हुआ है। तब मजदूर वर्ग के क्रांतिकारी आंदोलन के इस दौर में हमारा कार्यभार यही बनता है कि हम बुर्जुआ राजनीतिज्ञों की वर्गीय पक्षधरता का खुलासा करें, आम जनता के सामने पूंजीवादी जनवाद की सीमाओं को उजागर करें। गैर-बुर्जुआ जनवाद या सोवियत व्यवस्था की स्थापना के लिए प्रचार करें, इत्यादि। बहुत बेहतर हो कि यह काम हम चुनाव लड़ कर करें। यदि संसद के भीतर क्रांतिकारी सांसदों की कोई कमेटी कार्यशील हो सके और वे संसद के भीतर से वही व्यवस्था विरोधी बातें करें जो कि कम्युनिस्ट पार्टी बाहर से कर रही होगी तो यह सबसे बेहतर स्थिति है। मगर यदि हम अभी कमजोर हैं और इस बात को सुनिश्चित नहीं कर सकते कि हमारे जीतने वाले प्रत्याशी संसद के भीतर से क्रांतिकारी भंडाफोड़ व उद्वेलन कर पायेंगे तब हमें इस कमजोरी को स्वीकारना चाहिए और इससे उबरने के लिए अपने संगठनों को मजबूत करना चाहिए। वैसे कम्युनिस्ट सांसदों की कोई असरदार क्रांतिकारी कमेटी एक अखिल भारतीय पार्टी के तत्वावधान में ही अस्तित्व में आ पायेगी, वह पूर्व पार्टी-संगठनों के बूते की बात लगती नहीं है। लेकिन जब तक हम पूर्व पार्टी-संगठनों के बतौर

संगठित है तब भी हम एक सीमित हद तक इस बुर्जुआ राजनीतिक व्यवस्था का भंडाफोड़ कर सकते है और यदि अपनी कमजोर स्थिति के चलते हम चुनावों में हिस्सेदारी नहीं भी कर रहे हैं तब भी हमें अपनी ओर से अधिकतम भंडाफोड़ करना चाहिए।

2- अभी इस बुर्जुआ जनवाद ने संसद एवं विधान सभा स्तर पर वापिस बुलाने का अधिकार नहीं दिया है। मगर इस बात की गुंजाइश है कि कल वह यह सुधार करके अपनी स्वीकार्यता को बढ़ाने का प्रयास करे। मध्य प्रदेश में नगर पालिका स्तर के निकायों के लिए चुने हुए प्रत्याशी को वापिस बुलाने के अधिकार को मान्यता दे दी गयी है। वह प्रयोग में भी आ चुकी है। अत: कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों को इस बात के लिए तैयार रहना चाहिए कि पूंजीपति वर्ग अपनी राजनीतिक व्यवस्था में कुछ सुधार कर सकता है और मेहनतकश वर्गों के भ्रम को बढ़ा सकता है। इसलिए अपने भंड़ाफोड़ में रूप की ज्यादा नुक्ताचीनी करने के बजाय कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों को इसकी अर्न्तवस्तु बुर्जुआ तानाशाही को मुख्य निशाना बनाना चाहिए। दूसरे शब्दों में राजनीतिक भ्रष्टाचार या अपराधिकता की बातों तक अपने को सीमित रखने के बजाय हमें सीधे सेना, प्रशासन, न्यायपालिका, संसद इत्यादि की वर्गीय पक्षधरता को मुद्दा बनाना चाहिए और मेहनतकश वर्गों के बीच इस सच्चाई को स्थापित करना चाहिए कि आरक्षण, वापिस बुलाने के अधिकार, नकारात्मक वोट और उस पर आधारित पुन: मतदान इत्यादि सुधारों के होने पर भी इसके दमनकारी चरित्र में रत्ती भर कमी नहीं आयेगी। कुल मिलाकर हम रूप की कमियों को उजागर करने से आगे बढ़कर अन्तर वस्तु (पूंजीपति वर्ग की तानाशाही) का भंडाफोड़ करना चाहिए।

3- भारतीय समाज में जनवाद की परम्पराएं सशक्त नहीं हैं। ये मौजूद तो है मगर कमजोर है। ऐसे में इस बात की बहुत क्षीण संभावना है कि मजदूर वर्ग का क्रांतिकारी आंदोलन लम्बे समय तक शांतिपूर्ण स्थितियों में विकसित हो सके। बहुत जल्द उसे बुर्जुआ वर्ग की प्रति-क्रांतिकारी हिंसा का सामना करना पड़ेगा। वैसे तो अक्सर मजदूर वर्ग के गैर-क्रांतिकारी आंदोलनों को भी राजसत्ता की हिंसा का सामना करना पड़ता है। 1974 की रेल हड़ताल, ट्रेड-यूनियन कर्मियों को छोटे आंदोलनों के दौरान भी गिरफ्तार किया जाना, मजदूरों के खिलाफ टाडा प्रयोग, किसान प्रदर्शनों पर पुलिस द्वारा गोली चलाना ऐसे अनेक उदाहरण है जहां मेहनतकश वर्गों के संघर्ष व्यवस्था की सीमाएं कतई नहीं लांघ रहे थे लेकिन तब भी उनका हिंसात्मक दमन हुआ। ऐसी स्थितियों में यह तो कतई नहीं माना जाना चाहिए कि मजदूर वर्ग के क्रांतिकारी आंदोलन को लम्बे समय तक शांतिपूर्ण विकास के मौके मिलेंगे। इस वस्तु स्थिति को स्वीकारते हुए यह जरूरी है कि यद्यपि वैधानिक काम की सारी सम्भावनाओं का उपयोग किया जाये तथापि मजदूर वर्ग के पार्टी-संगठन को अपना ढांचा गुप्त रखना चाहिए और गैर-कानूनी गतिविधियों के संचालन की पूरी तैयारियां रखनी चाहियें। एक गुप्त ढांचे और गैर-कानूनी गतिविधियां किये बगैर भारत में मजदूर वर्ग के क्रांतिकारी संघर्ष को विकसित अवस्था में नहीं पहुंचाया जा सकता है, सत्ता पर कब्जा तो दूर की बात है।